भारत में किसान विद्रोह
ये किसानों की तस्वीरें हैं, न कि ‘गुंडों, कामचोरों, आतंकवादियों, और अलगाववादियों’ की, जैसा कि मुख्यधारा का मीडिया कहता है, कोई चेहरा विहीन भीड नहीं है ये।
ये लोगों की तस्वीरें हैं जिनके नाम हैं, संघर्ष और आकांक्षाएं हैं, और जीने का एक तरीका है।
ये एक वर्ग की तस्वीरें हैं।

ये एक ऐतिहासिक विद्रोह की तस्वीरें हैं। इस डोजियर में शामिल सभी तस्वीरें ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान के कला विभाग के सदस्य विकास ठाकुर ने ली थीं। दिल्ली में रहने वाले, विकास ने दिसंबर 2020 और जनवरी 2021 के दौरान हर हफ्ते किसान आंदोलन के दौरान फोटो लेते हुए किसानों के शाक्तिक क्रोध का दृश्य फोटो नकल की। अपने बेसिक शाओमी नोट 6 फोन के कैमरा से उन्होंने किसानों के विद्रोह को लेख लिया। विकास ने कहा कि, ‘शुरुआत में, मैं सिर्फ संग्रह के लिए तस्वीरें लेना चाहता था।’ उनकी द्वारा ली गई तस्वीरें किसानों - मुख्य रूप से हरियाणा और पंजाब लोगों की दिलेते तस्वीरें हैं, उनके गुस्से की, उनके खुशी की, अपने ट्रैक्टरों में ठंड का सामना करते रहते हुए, और धार्मिक ल्योहार मनाते हुए। ये तस्वीरें एक ऐतिहासिक विद्रोह में शामिल किसानों, एक वर्ग, और लोगों की तस्वीरें हैं।

कवर चित्र
दिल्ली के जीटी करनाल बाईपास रोड पर गणतंत्र दिवस की ट्रैक्टर मार्च के दौरान विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान
भारत में किसान विद्रोह
दिल्ली के डिकरी बॉर्डर पर विरोध प्रदर्शन करती हुईं पंजाब और हरियाणा की महिला किसान,
24 जनवरी 2021
विकास ठाकुर / ट्रिकंटिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान
भारत कोविड-19 महामारी की दूसरी लहर की चपेट में है। जर्जर स्वास्थ्य व्यवस्था, अस्पतालों के भरे हुए बिस्तर और खाली पड़े मेडिकल ऑक्सीजन सिलेंडरों के बीच कोविड संक्रमितों की दैनिक संख्या 4,00,000 को पार कर गई है। मृत्यु दर में भारी वृद्धि की वजह से श्रमिक घाटों पर करारें लगी हुई हैं। हालाँकि सुखियों में दिल्ली और अन्य शहरी केंद्र हैं, मगर मौत ने उत्तर भारत के ग्रामीण इलाक़ों में चुपचाप अपना पैर पसार लिया है। लोग बुखार और सांस फूलने से मर रहे हैं। सामान्य तौर पर इन लक्षणों का शुरुआत कोविड-19 के लक्षणों में दिखा जाता है। चूंकि ऐसे लक्षणों के साथ ग्रामीण लोगों की जाँच नहीं की जा रही है, इसलिए मरने के बाद उन्हें गिनती कोविड-19 से मरने वालों की आधिकारिक संख्या में नहीं हो रही है।

सितंबर 2020 में, प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और उनकी धूर-दक्षिणपंथी भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के नेतृत्व पार्टी भारत सरकार ने तीन क्रांति पारित किए जो सीधे तौर पर कृषि को प्रभावित करने वाले थे। न तो किसान संगठनों ने पहले इसके बारे में कोई बातचीत की गई और न संसद में ही चर्चा की अनुमति दी गई। किसानों को तुरंत लगा कि इन तीनों क्रांतियों की वजह से वे देश के बड़े व्यापारिक घरों के बंधुआ मज़ीूर बन जाएंगे।

किसानों और खेतिहर मज़दूरों ने पहली बार नवंबर 2020 में दिल्ली की ओर कूच किया। उन्हें दिल्ली की सीमाओं पर रोक दिया गया इसके बाद उन्होंने बीते राष्ट्रीय राजमार्गों पर डेरा डाल दिया और विरोध शुरू कर दिया। पंजाब में बड़े पैमाने पर लामबंदी शुरू हुई लेकिन जल्द ही हरियाणा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेश में यह आंदोलन फैल गया। नवंबर में हुए पहले दिल्ली मार्च के बाद के हफ्तों में विरोध की लहर पूरे भारत में फैल गई, पश्चिमी भारत में महाराष्ट्र से लेकर पूरी भारत में बिहार तक और नीचे दक्षिण भारत में भी। 26 जनवरी 2021 को गणतंत्र दिवस के अवसर पर देश की राजधानी नयी दिल्ली पर किसानों और खेतिहर मज़दूरों ने धावा
बोल दिया; उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि 1950 से हर साल मनाये जा रहे भारतीय संविधान के उत्सव का दिन उनका दिन भी है।

कॉरपोरेट-नियंत्रित मीडिया ने किसानों को ठग, परजीवी, आतंकवादी और अलगाववादी कहकर उनकी निश्चित पर हमला किया और यह आक्षेप लगाया कि वे भारत के विकास में बाधा डालने के इरादे से विरोध कर रहे हैं। किसान नहीं झुके। वे जानते थे कि वे अपने पूरे वर्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनके लिए यह लड़ाई असंतुलन की लड़ाई है: सरकार की नयी नीति की शर्तों को स्वीकार करने से उनकी आज़ादी और उनके जीवन जीने के तरीके समाप्त हो जाएँगे। वे जानते थे कि तीनों कृषि क़ानून से भारतीय कृषि पर अंबानी और अडानी परिवारों जैसे बड़े पूंजीपतियों का और भी अधिक नियंत्रण स्थापित हो जाएगा। अखिल भारतीय किसान सभा (एआईसीएस) से लेकर भारतीय किसान यूनियन जैसे कई किसान संगठन देश भर के किसानों और खेतिहर मज़दूरों के बीच गए ताकि किसानों की रक्षा करने तथा तीनों क़ानूनों को वापस कराने की मांग के लिए राष्ट्रीय गठबंधन बनाया जा सके।

विरोध प्रदर्शन धीमा नहीं पड़ा है, बल्कि किसान महामारी को लेकर सतर्क हैं। जबसे भाजपा सरकार ने पीछे हटने से इनकार कर दिया है तब से वे उपवास रखने का संकल्प लिए हुए हैं। नतीजा जो भी हो, इसमें कोई शक नहीं कि भारतीय कृषि खाई के किनारे पर पहुँच गई है और मोदी सरकार इसे उस किनारे से नीचे धकेलने पर तूली उठी है। तीन दशकों के नवउदासवादी सुधारों से उत्पन्न कृषि संकट के दौरान भारतीय किसान वर्ग अपने असंतुलन के लिए संघर्ष कर रहा है। मोदी के तीन कृषि क़ानून किसानों के कृषि जीवन के अवशेषों को नष्ट कर देंगे और इस क्षेत्र को कॉरपोरेट-नियंत्रित उत्पादन और वैश्विक आपूर्ति शृंखला को सीप देंगे।

कृषि संकट क्या है? यह एक पुरानी समस्या है जिसके बहुत से लक्षण हैं:
कृषि की अनिश्चितता, जिसमें फसल की बर्बादी भी शामिल है, जिसका परिणाम अल्पआय से लेकर ऋणात्मक आय, ऋणग्रस्तता, अल्परोज़गार, बेदखली और आत्महत्या के रूप में सामने आता है। यह डोजियर इस संकट के कारणों का पता लगायेगा जिनको समझना मुश्किल काम नहीं है। इस संकट की शुरूआत ब्रिटिश ओपननवेशिक शासन के दौरान हुई और यह 1947 में स्वतंत्रता मिलने के बाद बने नये भारतीय राज्य में भी बनी हुई है। भारतीय कृषि में प्रगति कमणचे की रफ्तार-सी हुई है, जिसकी रफ्तार बहुत धीमी है तथा जो हठपूर्वक अपने रास्ते पर चल रहा है। ऐसा लगता है कि पिछले पचहत्तर वर्षों में बहुत कम बदलाव आया है, और यहाँ तक कि जब नये कारक सामने आते हैं, तब भी पुराने कारक बने रहते हैं। यह समझने के लिये कि भारतीय कृषि बदहाली के इस मुहाने पर कैसे आकर खड़ी हुई, हमें इसकी यात्रा पर दृष्टिपात करना होगा।
दिल्ली के सिंघू बॉर्डर पर विरोध प्रदर्शन में भाग लेता एक किसान, अपने ट्रक में, 5 दिसंबर 2020।

विकास ठाकुर / ट्राइकोंटिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान
अतीत

जब 1757 में पहली बार ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत पर अधिकार किया, तो उसने पुराने आर्थिक संबंधों को नष्ट करना शुरू किया और उसे इस ढंग का बना दिया जिससे उन्हें यहाँ का माल लूटकर ले जाने में आसानी हो। भारत के अलग-अलग हिस्सों के साथ अलग-अलग व्यवहार किया गया, लेकिन लूटखोट का मुख्य ढाँचा एक ही रहा। भूमि की बिक्री योग्य संपत्ति में बदल दिया गया जिसे किसानों से अलग किया जा सकता था, और नवनिर्मित बिचौलिये (जैसे ज़मींदार) किसानों से अत्यधिक लगान वसूलने के लिए आ गए थे। 1770 में, अंग्रेजों के अधिकार क्षेत्र में आ चुके बंगाल, कंपनी के शासन में आने वाला भारत का पहला भाग, भारतवर्ष के अकाल आया जिसमें एक तिहाई आबादी की मौत हो गई। हालाँकि कंपनी के शासन से पहले ग्राम समाज कोई स्वर्ग नहीं था, मगर कंपनी और महारानी के शासन काल (1858 के बाद) के दौरान, यह किसानों के लिए नरक के समान बन गया।

अर्थशास्त्री उत्सा पटिनायक ने गणना की कि कंपनी और महारानी के शासन काल में 1765 से 1938 तक- औपनिवेशिक शासन के दो शताब्दियों से भी कम समय में- 45 ट्रिलियन (खरब) डॉलर (आज के मूल्यांकन के आधार पर) यहाँ से इंगलैंड ले जाया गया। दूसरे शब्दों में, जिनकी राशि लूटी गई वह भारत के वर्तमान (2.5 खरब डॉलर) सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के दो दशकों के मूल्य के बराबर थी।

संसाधनों की इतनी भारी कमी का परिणाम यह हुआ कि अच्छी फसल के वर्षों में भी किसानों के पास जीवित रहने के लिए पर्याप्त भोजन नहीं होता था। बुरे वर्षों में - जब मानसून ने का मौसम विफल हो जाता था – किसान बड़ी मुश्किल से अपने करों का भुगतान करने के लिए पर्याप्त धन जमा कर पाते थे और महीनों भीषण भूखमरी का सामना करते थे। किसान अच्छे वर्षों में पैसा या भोजन नहीं बचा पाते थे क्योंकि कराधान की वजह से
किसी भी तरह का बचत संभव नहीं थी। ऐसे में बुरे वर्षों में उनकी स्थिति गंभीर हो जाती थी। जब सूखा पड़ता था या फ़सल खराब हो जाती थी, जिनका होना तय था, तो किसानों के पास अकाल के प्रकोप से बचने के लिए अनाज का कोई भंडार नहीं होता था।

1850 और 1899 के बीच, भारतीय किसानों को चौबार सामना करना पड़ा, हर दो साल में एक अकाल। इन अकालों ने लाखों लोगों की जान ली: 1876-79 के अकाल के दौरान 1.03 करोड़ लोग मारे गए; 1896-1902 के अकाल के दौरान 1.9 करोड़ लोग मारे गए। 1876 के मदास अकाल पर रिपोर्ट करने वाले एक पत्रकार विलियम डिग्बी ने 1901 में लिखा था कि जब उनकी शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा निभाई गई भूमिका का बारे अगर इतिहासकार पचास साल बाद लिखेंगे तो यह लिखेंगे कि लाखों भारतीयों की अनावश्यक मृत्यु इस साम्राज्य की प्रमुख और सबसे कुख्यात समारक होगी।

इन अकालों की स्मृति - विशेष रूप से 1943 का बंगाल अकाल - ने सुनिश्चित किया कि नये भारतीय राज्य ने किसानों पर लगाने वाले करों को समाप्त कर दिया, जिसने अकाल की स्थिति पैदा नहीं होने दी और किसानों को अवशेष मिला कि वह खाद्य उत्पादन में सुधार के लिए अपनी भूमि में निवेश कर सके। सूखे के दौरान, सरकार ने यह सुनिश्चित किया कि अकाल की शुरुआत को रोकने के लिए किसानों को भोजन मिले। भूख समाप्त नहीं हुई थी, लेकिन अकाल अवश्य समाप्त हो गया था।

हालांकि, बड़े पूंजीपतियों और जमींदारों के नियंत्रण वाले भारतीय शासन व्यवस्था ने उन कृषि-संबंधी आर्थिक पदानुक्रमों को बरकरार रखा जो अंग्रेजों से उन्हें मिला था। यूएसएसआर और पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ़ चाइना के विपरीत, स्वतंत्र भारत ने गाँवों के सामाजिक-आर्थिक पदानुक्रमों पर चोट नहीं की। वाम आंदोलन के दबाव में, जो भारत के कुछ क्षेत्रों में मजबूत था, भारत सरकार ने भूमि सुधारों को आधे-अधूरे
तरीक़े से लागू किया; भूमि पुनःवितरण नगण्य था और भू-जोतों पर लगाई गई मामूली सौँलिंग सीमा को भी लागू नहीं किया गया क्योंकि ज़मींदारों की अपने क्षेत्रों में राजनीतिक व्यवस्था पर पकड़ थी। विभिन्न राज्यों में कार्यकर्ताओं का प्रभाव नहीं, क्योंकि कुछ राज्यों में किसानों को उस भूमि पर मालिकाना हक़ मिला, जिस पर वे खेती करते थे। कुछ लोगों के हाथों में भूमि केंद्रित रही थी तथा नव-सामंतों के हाथों छोटे किसानों और भूमिहीन खेतीकर्ता मजदूरों का शोषण जारी रहा, जिनका संबंध मुख्य रूप से उत्पीड़ित जातियों से था।

कृषि क्षेत्र के आधुनिकीकरण के बजाय, भारतीय शासक वर्ण ने सार्वजनिक क्षेत्र का औद्योगिकीकरण किया, जिसमें विशाल बाँधों और सिंचाई परियोजनाओं का निर्माण शामिल था। 1950 के दशक के अंत तक, भारत के औद्योगिकीकरण सुधार की प्रक्रिया से अभीती कृषि के ऊपर प्रहर शुरू कर दिया। बढ़ते औद्योगिक क्षेत्र को कृषि क्षेत्र के कच्चे माल की आवश्यकता थी और बढ़ती औद्योगिक श्रम शक्ति ने भोजन की मांग को बढ़ा दिया था। नतीजतन, भोजन की कमी लगातार होने लगी जिससे खाद्यान्न की क्रिया बढ़ गई; इस मुद्रास्फीतिकारी दबाव ने औद्योगिकीकरण को धीमा कर दिया। भारत का विदेशी मुद्रा बंडा लगभग समाप्त हो गया था, जिससे सरकार की खाद्यान्न आयात करने की क्षमता बाधित हो गई थी।

1965 तक, संयुक्त राज्य अमेरिका भारत को खाद्यान्न निर्यात करने वाला प्रमुख देश बन गया, क्योंकि भारत की सरकार ने 1956 में अमेरिका से सार्वजनिक क़ानून (पीएल) 480 के तहत खाद्यान्न उपलब्ध कराने का अनुरोध किया था। इस योजना के तहत, भारत ने अमेरिका से खाद्यान्न, ज़्यादातर गेहुँ, खरीदों और भारतीय मुद्रा में भुगतान किया, जिसने भारत को विदेशी मुद्रा संकट का सामना करने से बचा लिया। अमेरिका ने पीएल-480 योजना का उपयोग भारत सरकार पर दबाव डालने के लिए किया ताकि वह अपनी नीति, विशेष रूप से गुटनरपेक्षा संबंधी विदेश नीति में
परिवर्तन करे। एक अमेरिकी राजनयिक ने कहा था कि भारत भेजा गया अनाज खराब गुणवता वाला था, जो पोल्ट्री को खिलाने के लिए उपयोगी था लेकिन मानव उपभोग के लिए नहीं।

चीन (1962) और पाकिस्तान (1965) के साथ भारत के युद्धों के कारण विदेशी मुद्रा भंडार में भारी गिरावट आई। 1965 के सूखे की वजह से कृषि वर्ष 1965-66 में खाद्य उत्पादन में बीस प्रतिशत तक की कमी आई। भारतीय राजनेताओं और राजनयिकों ने वाशिंगटन से अधिक अनाज भेजने के लिए अनुरोध किया, लेकिन अमेरिका ने ज्यादा से भी कम अनाज भेजा क्योंकि वह दो नीतियों को बदलने के लिए दबाव बनाना चाह रहा था: पहला, आर्थिक विकास के आयात प्रतिस्थापन मॉडल को खत्म करना और देश को विदेशी निवेश और व्यापार के लिए खोलना; दूसरा, यूएसएसआर के साथ संबंधों को कमजोर करना और वियतनाम पर अमेरिकी युद्ध की आलोचना को रोकना।

जब प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी 1966 में अमेरिकी राष्ट्रपति लिंडन जॉनसन से मिलने के लिए वाशिंगटन गईं, तो उन्होंने आयात प्रतिबंध हटाने, कुछ उद्योगों को लाइसेंस से मुक्त करने, उर्वरक उत्पादन में अमेरिकी निवेश का अनुमति देने और भारतीय रुपये का संतावन प्रतिशत अवमूल्यन करने के अमेरिका और विश्व बैंक की क्षतियों पर सहमति व्यक्त की। जिसका नतीजा यह निकला कि मुद्रास्फीति बढ़ गई और अर्थव्यवस्था गहरे संकट में चली गई। भारत की सरकार का मानना था कि अमेरिका खाद्यान्न भेजेगा और विश्व बैंक एक मौद्रिक पैकेज के लिए सहमत हो जाएगा, लेकिन न तो अमेरिका और न ही विश्व बैंक ने ही भारत की उम्मीदों को पूरा किया। यह भारत सरकार के लिए एक अपमानजनक स्थिति थी, यह इस बात का प्रमाण था कि वह अब भी साम्राज्यवादी व्यवस्था पर निर्भर है।

इस संकट के दौरान, कुलीन वर्ग को बीच इस बात का एहसास हो गया था कि भारत जैसे बड़े देश के लिए, आयात के ज़रिये अपने लोगों को खिलाना
दिल्ली के सिंहू बोर्डर पर प्रारंभिक द्रोही रेली में भाग लेतीं एक किसान,
7 जनवरी 2021
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान
कोई विकल्प नहीं है। यह न केवल भारतीय संप्रभुता में साम्राज्यवादी 
हस्तक्षेप को बढ़ाएगा; बल्कि भारत के लाखों लोगों की निर्भर बनाकर 
गंभीर आंतरिक संकट को बुलावा भी देगा। इस अहसास ने भारत सरकार 
को खाड़े सुरक्षा हासिल करने और संकट से बाहर निकलने के लिए 
आंतरिक विकल्पों की तलाश करने के लिए मजबूर किया।

संकट से बाहर निकलने के दो रास्ते

भारत की सरकार के पास संकट से बाहर निकलने के दो रास्ते थे:

1. भूमि पुनर्वितरण। भारत सरकार भूमि पुनर्वितरण के माध्यम से 
भूमि संग्रहालय को लागू कर सकती थी, जिसका अर्थ होता भूमि को 
ग्रामीण भूमिहीन परिवारों को सौंपना। कुछ लोगों के पास बहुत 
अधिक भूमि इकट्ठा हो गई थी जो कृषि के उत्पादकता में वृद्धि के 
लिए एक बाधा बन गई थी। नव-सामयिक संबंधों का मतलब था कि 
जमींदार अपने जोतियों से उच्च लगान वसूल कर सकते थे और 
साथ ही अपने निजी इस्तेमाल के लिए जोतियों के मुफ्त श्रम का भी 
इस्तेमाल कर सकते थे। जमींदारों को जमीन के विक्रय से जो पैसा 
आया उसे उन्होंने अपनी जमीन तथा पौधों की निवेश करने के 
बजाय खुद के कारोबार में लगा दिया। जमीन के जोतियों आर्थिक 
को सुधारने के लिए अपनी आय का उपयोग नहीं कर सकते थे 
क्योंकि उनके पास जो भी पैसा बचता था उसे जमीन के विक्रय 
के तौर पर जमींदार को दे देना पड़ता था। कृषि में निवेश की कमी 
की वजह से उच्च विकास दर को हासिल करने में सकारात्मक आई। 
भूमि पुनर्वितरण के साथ-साथ कृषि बुनियादी ढँचे में सार्वजनिक 
निवेश से सामाजिक-आर्थिक समानता तथा आर्थिक विकास दोनों 
में वृद्धि होती। विकास के बाद उत्पादकता में वृद्धि और किसानों 
द्वारा खपत में वृद्धि होती, जिससे ग्रामीण औद्योगिकीकरण को 
बढ़ावा मिलता।
2. हरित क्रांति। 1960 के दशक की शुरुआत में, कृषि वैज्ञानिक नॉर्मन बोरलॉग ने उच्च उपज देने वाले गेहूं की बौनी क्रिया में विकसित की, जिन्हें रासायनिक उद्योगों और आयूर्वेदिक पेयने पर सिंचाई की आवश्यकता थी। उच्च उपज देने वाले यह नयी कृषि तकनीक मौजूदा खेती-शैली और उद्योगी पैमाने पर सस्ती और अधिक उत्पादक थी। इसलिए, हरित क्रांति भारतीय शासक वर्ग के लिए एक सुखद समाधान था, जिसे महसूस हुआ कि इससे भूमि सुधार के बिना कृषि उत्पादकता बढ़ेगी।

वास्तव में, भूमि सुधार और हरित क्रांति पौधोगिकी को परस्पर अलग-अलग विकल्प के रूप में देखने की आवश्यकता नहीं है। दोनों के संयोजन तथा विवेकपूर्ण उपयोग से उच्च कृषि विकास दर हासिल की जा सकती थी जिससे किसानों को लाभ होता। दोनों के संयोजन, विवेकपूर्ण तरीके से उपयोग किए जाने से उच्च कृषि विकास दर हासिल किया जा सकता था जिससे किसानों को लाभ होता। हालाँकि, भारत सरकार ने भूमि संबंधों में सुधार से बचने का रास्ता चुना और इसकी जगह हरित क्रांति पर ध्यान केंद्रित किया।

1961 में, भारत के गाँवों में बारह प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास साठ प्रतिशत से अधिक फसल भूमि थी। चूँकि सरकार का उद्देश्य औषधिकीकरण के हित में खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता की बढावा देने के लिए कृषि उत्पादन की बढाना था, इसलिए बड़ी पूंजी वाले किसानों को लाभान्वित करने के लिए, हरित क्रांति तकनीक को लागू करना उचित समझा गया। ग्रामीण जनता की आजीविका में सुधार और सामाजिक-आर्थिक समानता हासिल करना प्राथमिक लक्ष्य नहीं था। यह मान लिया गया था कि जैसे-जैसे उत्पादकता बढ़ेगी तथा अमीर किसानों की आय बढ़ेगी, वैसे-वैसे बाक़ी ग्रामीण परिवारों को भी इसका लाभ मिलेगा।
किसानों की सहायता के लिए, सरकार ने कृषि विज्ञान के संस्थानों को बढ़ावा दिया। रीयों संस्था के रूप में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (1929 में स्थापित) के साथ-साथ राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान प्रणाली का निर्माण किया गया, उसके साथ ही विशेष अनुसंधान संस्थानों, कृषि विश्वविद्यालयों, विस्तार केंद्रों और क्षेत्र अनुसंधान स्टेशनों का एक व्यापक नेटवर्क स्थापित किया गया। इन संस्थानों ने हरित क्रांति प्रौद्योगिकियों के उपयोग के लिए तकनीकी सहायता प्रदान की। उच्च उपज देने वाली किस्में को पानी की प्रचुर उपलब्धता तथा कृषि सस्तरों के अल्पसमय स्तरीकरण का आवश्यकता होता है। इसी वजह से, हरित क्रांति तकनीकी केवल नहर सिंचाई प्रणाली वाले क्षेत्रों जैसे पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर देश और दक्षिण भारत के तटीय मैदानों में लागू की जा सकी। हरित क्रांति तकनीक का उपयोग भारत के सस्तर प्रभावित मूसल भूमि में नहीं किया गया, जहाँ गाँवों में लोग जीवन निर्वाह के लिए खेतों कर रहे थे।

देश के बाकी हिस्सों में हरित क्रांति प्रौद्योगिकी का विस्तार करने के लिए सरकार ने सतही सिंचाई में पर्याप्त निवेश किया। 1951 और 1991 के बीच, नहर सिंचाई के लक्ष्य दोगुने से अधिक हो गए, 83 लाख हेक्टेयर से बढ़कर 175 लाख हेक्टेयर। ट्यूबवेल और बोरवेल के लिए किस्मों के बैंक ऋण से मदद मिली जिसके बाद सिंचाई में इज़ाफ़ा हुआ। 1961 और 1991 के बीच, ट्यूबवेल सिंचाई के तहत लगभग 140 लाख हेक्टेयर क्षेत्र का विस्तार हुआ, 1961 के पहले ट्यूबवेल सिंचाई की व्यवस्था न के बराबर थी। जैसे-जैसे नहर सिंचाई का विस्तार हुआ, छोटे और सीमांत किस्मों ने भी हरित क्रांति प्रौद्योगिकी के उच्च उपज वाले बीज और रासायनिक उर्वरक संयोजन का उपयोग करना शुरू कर दिया।

जिन सरकारी संस्थानों को कृषि विकास का जिम्मा सौंपा गया था उनके समूह यह स्पष्ट था कि उत्पादकता बढ़ाने के लिए किए जाने वाले निवेश में किस्मों को उनके हाल पर नहीं छोड़ा जा सकता है। प्रमुख क्षेत्रों - जैसे सिंचाई, बाढ नियंत्रण, और भूमि विकास और बाज़ार के बुनियादी ढाँचे
के निर्माण – में निवेश की जिस पैमाने पर आवश्यकता थी वह किसानों की व्यक्तिगत क्षमता से परे था; यह केवल सरकार द्वारा ही किया जा सकता था। इसके अलावा, खेती प्रकृति की अनिश्चितताओं (बाढ़, सूखा, ओलावृष्टि, कीट) पर भी निर्भर थी, जो पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा थोपी गई अनिश्चितताओं से और अधिक जटिल हो जाती है। क्रिमों में उत्तर-चढ़ाव होता रहता था, छोटे किसान विशेष रूप से खेती में उपयोग में आने वाली वस्तुओं की सौदेबाजी करने में तथा अपनी उपज की बाज़ार क्रिमों को नियंत्रित करने में असमर्थ थे। ऋण प्राप्त करने, खेती में उपयोग में आने वाली वस्तुओं पर सब्सिडि, बाज़ार के बुनियादी ढाँचे का निर्माण करने और अतिम उत्थान के लिए लाभकारी क्रिमों की एक प्रणाली को बनाए रखने के लिए किसानों को राज्य की सहायता की आवश्यकता थी। अपने संस्थागत तंत्रों के माध्यम से कुछ जोखिम उठाकर, सरकार के पास यह क्षमता थी कि वह खेती को व्यावहारिक बना सके। 1960 के दशक में जैसे-जैसे ये संस्थान विकसित हुए, वे कृषि प्रक्रियाओं और ग्रामीण जीवन का अन्तर्गत हिस्सा बन गए। हालाँकि, इन संस्थागत उपकरणों ने बड़े किसानों को अधिक लाभ पहुँचा लाता, सरकार के पास यह क्षमता थी कि वह खेती को व्यावहारिक बना सके। 1960 के दशक में संस्थानीय रूप से ऋण सहायता प्राप्त करने की अनुमति बढ़ी और भूमि सैलानी का अधिक लाभ पहुँचकर भी।

उच्च अर्थव्यवस्था के उदारीकरण की सुरुआत के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण की सुरुआत के बाद भी सरकार उन्हें पूरी तरह से नष्ट नहीं कर पाई है। मोदी के तीनों कृषि कानून इन संस्थागत व्यवस्थाओं को उखाड़ फेंकने का एक सीधा प्रयास है। इसलिए, किसानों का संघर्ष एक राजनीतिक लड़ाई है, न केवल इन संस्थागत साधनों की रक्षा के लिए, बल्कि उनके जीवन जीने के तरीक़े को संरक्षित करने के लिए भी।

ऋण तथा मूल्य

स्वतंत्र भारत में सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक नीतिगत निर्णय 1969 में बैंकों का राजीवकरण था। कृषि विस्तार के लिए ऋण सहायता प्रदान करने की
दिल्ली के सिंघू बॉर्डर पर एक किसान दंपति अपनी ट्रॉली में समय की रात बिताते हुए,
28 दिसंबर 2020
विकास ठाकुर / ट्राइकॉंटिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान
आवश्यकता ने इस निर्णय में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राष्ट्रीयकरण
से पहले तक भारत में बैंकिंग प्रणाली पर निजी बैंकों तथा सार्वजनिक रूप
से नियंत्रित भारतीय रेस्ट्रेंट बैंक (एसबीआई) का प्रभुत्व था। निजी बैंकों
के कार्यालय महानगरीय बैंकों में थे, जिनकी ग्रामीण भारत में कोई खास
उपस्थिति नहीं थी। उनके बोर्ड में उद्योगपतियों की भरमार थी, जिनकी
प्रवृत्ति औद्योगिक क्षेत्र को पैसा उधार देने की थी, न कि कृषि क्षेत्र को।
1961 में, कृषि - जिसमें सत्तर प्रतिशत कार्यक्रम कार्यकर्त था और सकल
घरेलू उत्पाद में जिसकी चालीस प्रतिशत हिस्सेदारी थी - को वाणिज्यिक
बैंकों द्वारा दिए गए कुल ऋण का दो प्रतिशत प्राप्त हुआ। वाणिज्यिक
बैंकों ने किसानों को उधार देने के लिए सरकार द्वारा की जाने वाली अपील
को मानने से इनकार कर दिया। वाणिज्यिक बैंकों के लिए ग्रामीण इलाकों
में विस्तार करने के लिए पैसा खर्च करना कभी भी उतना अच्छा नहीं था
क्योंकि उद्योग और व्यापार को दिए जाने वाले ऋण से उन्हें जो कमाई होती
थी वह कृषि से कभी नहीं हो सकती थी। कृषि क्षेत्र में निवेश करने में बैंकों
की विफलता के परिणामस्वरूप, सरकार ने 1969 में चौथ सत्तर बैंकों
का राष्ट्रीयकरण करके उनका अधिग्रहण कर लिया और अभी तक प्रतिशत
बैंकिंग व्यवसाय को सार्वजनिक नियंत्रण के अधीन ला दिया। सरकार ने
नये सार्वजनिक बैंकों को आपने ऋण का कम-से-कम अधारित प्रतिशत कृषि
क्षेत्र को उधार देने का निर्देश दिया। इसके परिणामस्वरूप, इन सार्वजनिक
बैंकों ने ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाएँ खोलने शुरू कीं, ज्यादातर सारे क्षेत्रों में
जहाँ हरित कृषि प्रौद्योगिकी लागू की गई थी।

पहली बार लाखों किसानों को गांव के साहुकार का एक विकल्प मिला।
इससे कृषि में निवेश को बढ़ावा मिला। बैंकों ने उद्योग और व्यापार को
दिए जाने वाले ऋण के लाभ से कृषि के लिए कम व्याज वाले ऋणों के
कम लाभ की भरमार की। किसानों को मौसमी फ़सल ऋण के साथ-साथ
ट्रेक्टर और स्पेयर जैसी मशीनों खरीदने के लिए दौर्जूरालिक ऋण भी
मिला। भूमि जोत के आकार के आधार पर ऋण दिए गए, जिसका लाभ
बढ़े किसानों को हुआ, हालाँकि छोटी जोत वाले किसानों को भी ऋण
दिया गया। यह ऋण सरकार द्वारा बीज और उर्ध्वरक जैसे सब्सिडी वाले इनपुट की बिक्री के साथ आया, और सरकार ने निजी उर्ध्वरक निर्माताओं को कम कीमतों की भरपाई के लिए सब्सिडी दी। बैंक के राष्ट्रीयकरण से कृषि विकास को गति मिली।

1960 में, सरकार ने न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) योजना की स्थापना की। पांच साल बाद, सरकार ने भारतीय खाद्य निगम (एफ़सवीआई) की स्थापना की। एफ़सवीआई और एमएसपी को एक साथ कृषि की एक बुनियादी दुनिया का समाधान करने के लिए लाया गया था: यदि खाद्य कीमतें बहुत कम हैं, तो किसान को नुकसान होता है, लेकिन यदि खाद्य कीमतें बहुत अधिक हैं, तो श्रमिकों को नुकसान होता है। किसी भी फ़सल के लिए एमएसपी तय किया जाता है ताकि किसानों को उनकी खेती की लागत को पूरा करने के लिए क्रीम मिल सके और किसान को उचित आय मिल सके। एफ़सवीआई एमएसपी पर किसानों से खाद्यान्न खराब होता है और श्रमिकों को उचित मूल्य पर ये अनाज उपलब्ध कराता है। इस पूरे तंत्र को सरकार द्वारा सब्सिडी दी जाती है, जिससे इन दामों की मदद किया जाता है। सरकार सार्वजनिक वित्त समग्रणी (पीडीएस) के माध्यम से खरीद गए अनाज को मजदूर वर्ग और किसानों को बेचती है। एफ़सवीआई के गोदामों में अतिरिक्त अनाज को कफर के रूप में रखा जाता है ताकि अगर किसी साल फ़सल खराब हो जाए तो उस स्थिति में उच्च खाद्य मुद्रास्फीति से मजदूर वर्ग को उपयोग करने के लिए एक प्रति-वर्गीय उपाय के रूप में इसे बाज़ार में उतारा जाता है।

लेकिन किसानों द्वारा उगाई गई सारी उपज एफ़सवीआई द्वारा नहीं खरीदी जाती है। शेष व्यापारियों को बेच दिया जाता है। व्यापारियों के मुकाबले व्यक्तिगत किसानों को नुकसान ही होता है क्योंकि व्यापारियों उनके उपज का दाम कम लगाते हैं, उन्हें भुगतान में देरी करते हैं, और धोखाधड़ी वाले तराजू का उपयोग करके उन्हें धोखा देते हैं। 1960 और 1970 के दशक में, भारतीय संघ में राज्यों ने बाज़ार याठियों को विनियमित करने,
यार्डों में भंडारण के लिए बुनियादी ढाँचे का निर्माण करने और व्यापारियों
के व्यवहार के नियम को सुनिश्चित करने के लिए कृषि उत्पाद विपणन
समितियों (एपवीएमसी) की स्थापना की। एफ़सीआई ने इन एपवीएमसी
यार्डों से अपने लिए अनाज का स्टॉक खरीदना। सरकार की हरित क्रांति
और ग्रामीण ऋण नीतियों की सफलता इसके संकेतों उद्देश्यों द्वारा सीमित
थी। इन नयी तकनीकों ने सुनिश्चित सिंचाई वाले राज्यों को लाभ पहुँचाया,
जिसका अर्थ था कि उन्हें अधिक कृषि ऋण प्राप्त हुआ। एमएसपी के
माध्यम से अधिकांश अनाज की खरीद पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर
प्रदेश जैसे क्षेत्रों तक सीमित थी। बल्कि ही एमएसपी के तहत अनाज तथा
दाल जैसी तेजस्क राष्ट्रियों को सूचीबद्ध किया गया है, मगर सबसे
अधिक खरीद धान और गेहूँ की जाति है।

इस निर्णय की अनिश्चितता का अर्थ यह है कि जो लोग अर्थ-शुष्क क्षेत्रों
में खेत करते हैं, जहाँ अन्य फसलें उगाई जाती है, उनके पास सरकारी
सहायता समग्रता से नहीं पहुँचती है। एपवीएमसी की स्थापना भी इनहीं
पूर्वाग्रहों पर आधारित थी, ताकि इन तीन क्षेत्रों (पंजाब, हरियाणा और
पश्चिमी उत्तर प्रदेश) में बेहतर बाज़ार बुनियादी ढाँचा हो। पंजाब में, प्रत्येक
116 तरुण भारत सीमा रंगीन वर्ग किलोमीटर में एक विनियमित मार्केट यार्ड है, लेकिन आंध्र प्रदेश में,
ऐसा एक विनियमित मार्केट यार्ड 853 तरुण किलोमीटर के दायरे के
भीतर के गाँवों की सेवा करता है। मार्केट यार्ड की निकटता का छोटे
और सीमांकित किसानों पर काफ़ी असर पड़ता है क्योंकि नज़दीकी यार्ड का
मतलब है परिवहन पर कम लागत।

वर्ग की कठोरता

हरित क्रांति शुरू होने के कुछ समय बाद ही, ग्रामीण असमानता के और
अधिक गहरे होने के सामाजिक और राजनीतिक परिणामों के बारे में
भारतीय गृह मंत्रालय काफ़ी चिंतित हुआ और यह चिंता वाजिब भी थी।
गृह मंत्री वाई.बी. चवाण ने चिंतित होकर कहा था कि कहीं ऐसा न हो कि
हरित क्रांति एक लाल क्रांति में रुपांतरित हो जाए। द कॉज़ एंड नेचर ऑफ़ करेंट एप्रेलियन ट्रेंसन्स (1969), नामक रिपोर्ट जिसे उनके मंत्रालय ने तैयार किया था, उसमें बुर्जुआ दृष्टिकोण से समस्या का एक स्पष्ट मूल्यांकन था:

सबसे पहले, [हरित क्रांति की नयी रणनीतियाँ] एक पुरानी कृषि प्रधान सामाजिक संरचना पर टिकी हुई है जिसे कृषक वर्ग कहा जा सकता है, उसके हित महत्व की रहीं, सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों के सामान्य रूप से स्वीकृत ढाँचे में परिवर्तित नहीं हुए हैं। दूसरे, नयी तकनीक और रणनीति, जो उत्पादन को पहला लक्ष्य मानकर आगे बढ़ी तथ्य जिसके लिए सामाजिक अन्विताएँ कम महत्व की रहीं उसके बाद ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जिससे असंतुष्ट, अस्थिरता और अशांति के तत्व प्रमुख रहे जिसके बाद अब तनाव में वृद्धि की संभावना बढ़ गई है।

ठीक इसी तरह की नीति के नाम ग्रामीण वर्ग विभाजन को तेज़ किया और ऐसे काम के लिए अवसर निर्मित किया जिससे गृह मंत्रालय को बचना चाहिए था, अर्थात ग्रामीण विद्रोहों से निपटना। 1969 के गृह मंत्रालय की रिपोर्ट के कविमिज़ा ने लिखा था कि भारतीय गाँव के जटिल आगुः सामाजिक एक संगठित कृषक वर्ग के साथ जुड़ा हुआ महसूस कर सकते हैं और विस्फोट के साथ समाप्त हो सकते हैं। इसे कर्ज के जाल के माध्यम से किसानों का मनोबल गिराकर और ग्रामीण इलाक़ों में अमीर किसानों की शक्ति को मजबूत करके रोका जाना था।

अमीर किसान सरकार द्वारा स्थापित संस्थान तंत्रों का उपयोग करने की बेहतर स्थिति में थे। इस प्रणाली की स्थापना उन लोगों को अधिक बैंक ऋण और न्यूनतम समर्थन मूल्य और सरकारी वाले उर्बन के अधिक लाभ प्रदान करने के लिए की गई थी, जिनके पास बड़ी भूमि जोत थी। चूंकि सरकार ग्रामीण भारत की असमानताओं को दूर करने के बजाय कृषि उत्पादकता बढ़ाने में अधिक चुनौती ले रही थी, इसलिए इन नीतियों का लाभ अमीर किसानों को मिला।
शुरुआती विरोध प्रदर्शनों से ही शामिल एक किसान दिल्ली के सिंधू बॉर्डर पर अपनी दौड़ में पंजाब के क्रांतिकारी कवि, पाश, की कविताएँ पढ़ते हुए

विकास ठाकुर / द्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान
चूँकि अमीर किसानों ने सरकारी बैंक ऋण पर क्रेडिट कर लिया, इसलिए छोटे और सीमांत किसान बाध्य होकर साहूकारों से ऋण लेते रहे। कृषि परिवारों के नवीनतम स्थिति आकलन सर्वेक्षण के अनुसार, अमीर किसानों ने अपने ऋण का अस्सी प्रतिशत संख्यागत स्रोतों से प्राप्त किया, जबकि सीमांत किसानों को इन स्रोतों से केवल पाचार प्रतिशत ऋण मिला। अपने आधे ऋण के लिए, सीमांत किसानों को गैर-संख्यागत स्रोतों का सहारा लेना पड़ा, जैसे कि साहूकार जो शोषणपत्रयों दंग से उच्च ब्याज दर वसूलते थे; इसने सीमांत किसान को क्रुड़ के जाल में उलझा दिया। खेतिहर मजदूरों के लिए स्थिति निराशाजनक बनी हुई है, जिन्हें अपने ऋण का अस्सी प्रतिशत साहूकारों से लेना पड़ता है।

कई भूमिहीन और सीमांत किसान कार्यकार बनकर और अन्य परिवारों से भूमि पट्टे पर लेकर खेती करते हैं, ऐसे जमींदार प्रायः प्रवासी की तरह जल्द में रहते हैं। आधिकारिक आँकड़े भारत में कार्यकार के तौर पर खेती करने वालों की संख्या को कम करने के आकार हैं। सर्वेक्षणों से पता चलता है कि खेतिहर परिवारों में काफी बड़ी संख्या ऐसे कार्यकारों का है जो पट्टे पर जमीन लेकर खेती करते हैं। उदाहरण के लिए, तटस्थ आंध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में, सतर्क से अस्सी प्रतिशत किसान ऐसे ही कार्यकार हैं; बिहार में, छब्बीस प्रतिशत किसान पट्टे पर जमीन लेकर खेती करने वाले कार्यकार हैं। सीमांत किसान अक्सर कार्यकारी अनुबंधों को अपनाकर अपनी जीत को बढ़ा लेते हैं, जिस पर वे अपने पूरे परिवार के साथ मेहनत-मजदूरी लेते हैं।

कार्यकारी अनुबंध ज्यादातर अनौपचारिक मौखिक समझौते होते हैं क्योंकि मालिक, जो बाहर रहने वाले प्रवासी जमींदार होते हैं, उन क्रान्तियों को दरकिनार करना चाहते हैं जो किरायेदार किसानों को उनके द्वारा खेती की जाने वाली भूमि के संबंध में महत्वपूर्ण अधिकार देते हैं। चूँकि उनके पास स्वामित्व का कोई दस्तावेज नहीं होता है, इसलिए भूमिहीन किसानों -सीमांत किसानों की तरह - को फ़सल ऋण या दीर्घकालिक ऋण सहित
संस्थागत समर्थन का लाभ नहीं मिल पाता है। ये कार्यकारी किसान ऋण के लिए, ज्ञामीदारों, धनी किसानों, साहित्यिकों और व्यापारियों की ओर रख करते हैं। व्याज दरें अधिक होती हैं, और उन कार्यकारियों को अक्सर मुफ्त श्रम करने के लिए मजबूर किया जाता है। फसल खराब होने पर किसान क़र्ज के जाल में उलझते चले जाते हैं। किसानों का भुगतान करने के बाद, छोटे और बीमार कार्यकारियों के पास इतना कम पैसा बच पाता है कि स्वास्थ्य खर्च या एक फसल बराबर हो जाने सहित कोई भी झटका उन्हें अनोपचारिक ऋण लेने के लिए मजबूर कर देता है, जिससे स्थानीय लेनदार की उसके ज़मीन और श्रम पर पकड़ और मजबूत हो जाती है। कार्यकारी अनुबंध के अभाव में, कार्यकारी किसान एमएसपी प्रणाली में बिक्री नहीं कर सकते; इसके बजाय, उन्हें अक्सर अपने खेतों में ही व्यापारियों के हाथों अपनी फसल बेचनी पड़ती है और इसके लिए एमएसपी से काफी कम क़ीमत मिलती है।

1991 में शुरू हुए उदारीकरण की अवधि के दौरान संपूर्ण ऋण तथा मूल्य प्रणाली के कमजोर पड़ने से पहले ये समस्याएं मौजूद थीं।

उदारीकरण और कृषि संकट

1990-91 में, भारत सरकार को एक गंभीर विदेशी मुद्रा संकट का सामना करना पड़ा। विदेशी मुद्रा भंडार गिरकर 1.2 अरब डॉलर हो गया, जो केवल दो सप्ताह के आयात के भुगतान के लिए पर्याप्त था। भारत सरकार ने बैंक ऑफ़ लंडन से 40 करोड़ डॉलर के अल्पकालिक ऋण के लिए गारंटी के रूप में सैंतालवीस टन सोना लंडन भेजा। भारत ने आईएमएफ का खुद किया। नवंबर 1991 में, वित्त मंत्री मनमोहन सिंह ने कहा, आईएमएफ के साथ बातचीत मुश्किल थी क्योंकि दुनिया बदल गई है। भारत इस दुनिया से अलग नहीं है। भारत को ऐसी दुनिया में जीवित रहना और फलना-फूरना है, जिसे हम अपने हिसाब से नहीं बदल सकते। आर्थिक संबंध के अनुसार रूप में संबंध शक्ति के अधीन है। हम केवल नैतिकता के भरोसे नहीं रह सकते हैं।
जैसा कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस और इसारा किया कि भारत जिस संकट में घिर गया था उससे बाहर निकलने के लिए उसके पास अन्य विकल्प थे। इसके बावजूद, भारत सरकार ने आईएमएफ और विश्व बैंक से भारी शर्तों के साथ ऋण स्वीकार करने का विकल्प चुना। इन शर्तों के तहत, भारत को एक संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम के तहत नवउदारवादी सुधारों को लागू करने के लिए मजबूर किया गया था, जिसे महानगरीय लोगों और भारतीय पूँजी दोनों का उत्साही समर्थन प्राप्त था। इस सुधार के एजेंडे का मतलब था कि सरकार की नीति भारतीय लोगों को अनैतिक दूर पूँजीवाद के सबसे खराब प्रभाव से बचाने के अपने प्रयास को रोक देगी।

सरकार ने नये निजी बैंकों को लाइसेंस प्रदान करके बैंकिंग क्षेत्र को विनियमित करना शुरु कर दिया, जो तब सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के खिलाफ प्रतिस्पर्धा कर रहे थे। इसका कृषि व्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। उस समय, उदारीकरण के प्रवक्ताओं ने तर्क दिया - अक्सर बहुत कम प्रमाण के साथ - कि कृषि ऋण ने किने के लिए कोटा तय करने, कृषि के लिए बैंक ब्याज दरों पर लगाई गई सीमा तथा ग्रामीण बैंक चेक्षेखाओं के नेटवर्क की वजह से बैंकिंग क्षेत्र को नुकसान उठाना पड़ा। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को नये निजी बैंकों के साथ प्रतिस्पर्धा करने में कठिनाई हुई, इसके बाद उसने अपने ग्रामीण प्रभागों को समाप्त कर दिया। कृषि के लिए दिया जाने वाला ऋण कहीं और चला गया, जिसमें धीरे-धीरे बढ़ता हुआ वित्तीय क्षेत्र भी शामिल है। कृषि ऋण सिकुड़ गया और किसानों ने एक बार फिर शोषणकारी अनौपचारिक ऋण लोनों को सहारा लिया।

1 जनवरी 1995 को, भारत विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटिएओ) में शामिल हो गया, जिसके परिणामस्वरूप कृषि आयात क्षेत्र में मात्रात्मक प्रतिबंधों में ढील दी गई। भारतीय किसान - जिनमें से कई केवल कुछ एकड़ भूमि पर काम करते हैं - बहुराष्ट्रीय कृषि व्यवसायों के खिलाफ तथा उत्तर औद्योगिक देशों के किसानों के खिलाफ प्रतिस्पर्धा करने के लिए मजबूर
हुए, जो हजारों एक्क जमीन पर खेती करते हैं तथा जिनकी सरकारें भारी सब्सिडी देकर उनकी मदद करती है।

सरकार ने न केवल कृषि आयात के दरवाजे खोले, बल्कि सब्सिडी में करौंती करके भारतीय किसानों को भी नियोज़ा। उर्वरक की क्रीमतें बढ़ीं, जिससे खेती की लागत में वृद्धि हुई। निजी क्षेत्र के फ़र्मों द्वारा बड़े पैमाने पर उच्च पैदावार और मुनाफ़े का वादा करने वाले जनसंपर्क अभियानों ने किसानों को महंगे बीज और कीटनाशक खरीदने के लिए प्रेरित किया, जिससे पैदावार में धीरे-धीरे वृद्धि तो हुई मगर खेती की लागत और बढ़ गई।

यह दक्कन के पटार के अंश-शुष्क क्षेत्रों में कपास की खेती के मामले में साफ हो गया; किसानों को निर्यात के लिए कपास उगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया था, लेकिन कृषि व्यवसाय के हीले नियमन के कारण कृषिक बीजों की बिक्री हुई और कीटनाशकों का अत्यधिक उपयोग हुआ, जिसके बाद कपास की फ़सल पर कीटों का हमला बढ़ गया, जिसकी वजह से उन फ़सलों को बर्बाद होने से नहीं बचाया जा सका और किसानों की हालत खराब होती चली गई। पिछले कुछ वर्षों में अंतरराष्ट्रीय कपास की कीमतों में गिरावट ने इस क्षेत्र में एक गंभीर कृषि संकट पैदा कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप किसानों की आत्महत्या से होने वाली मृत्यु में तेज़ी आई है।

ग्रामीण क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश में तेज़ी से कमी आई। 1991 के बाद, सतही सिंचाई में कोई विस्तार नहीं हुआ। मरम्मत के अभाव और गाद न निकाले जाने की वजह से नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्रों में दस लाख एकड़ की कमी हो गई है। परिणामस्वरूप, 1993-94 और 2004-05 के बीच किसानों की आय में सालाना केवल 1.96 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

बढ़ती लागत, विश्व बाज़ार में कम क्रीमतें और फ़सल की विफलता के कारण कृषि संकट का दौर जारी रहा। 1991 के बाद से, सरकार ने उपभोक्ता खाद्य सब्सिडी कम कर दी है, जिससे लाखों भारतीयों की खाद सुरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। 1995 और 2001 के बीच, भारत में
दिल्ली के सिंघू बॉर्डर पर पालकी साहिब सजाती महिलाएँ, 31 दिसंबर 2021
विकास ठाकुर / ट्राईकॉंटिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान
कुपोषित लोगों की संख्या में लगभग 2 करोड़ की वृद्धि हुई। संयुक्त राष्ट्र के खाद्य और कृषि संगठन की रिपोर्ट विश्व में खाद्य असुरक्षा की स्थिति (2003) ने दिखाया कि उस समय दुनिया में 84.2 करोड़ कुपोषित लोगों में से, 21.4 करोड़, या एक चौथाई, भारत में रह रहे थे। इसी दशक में कम-से-कम ढाई लाख किसानों ने वित्तीय क्रज के सिराजों से निराश होकर आत्महत्या कर ली।

कृषि संकट सार्वभौमिक नहीं है: यह मुख्य रूप से छोटे और सीमात किसानों को प्रभावित करता है। अमीर किसान – जो गाराबानी, मछली पालन, आदि से भी जुड़े हुए हैं - प्रमुख क्षेत्रों में अंतरराष्ट्रीय बाजारों का लाभ उठाने के लिए इस संकट से खुद को पूरी तरह बचाने में सक्षम रहे हैं। उनके पास निवेश करने और बुरे वर्षों में घाटे की भरपाई करने की क्षमता थी। उदारीकरण बढ़े किसानों के लिए उतना निर्दयी नहीं रहा है जितना कि बाकी कृषि समाज के लिए रहा है।

1991 के बाद, उदारीकरण के नकारात्मक परिणामों ने खेत के श्रमिकों और कारखाने के श्रमिकों, बेरोज़गारों और झुगड़-झोपड़ियों में रहने वालों को प्रभावित करना शुरू कर दिया, और इससे लेकर प्रतिक्रिया तेजी से हुई। किसान की आत्महत्या का गम था; पान के बागों की चोरी से लेकर उड़ीया में पाकों स्टील तक सार्वजनिक भूमि के अतिक्रमण को लेकर बड़े पैमाने पर विरोध प्रदर्शन हुए; भट्टा परसौल (नोएडा, यूपी) गाँव में एक विशेष आर्थिक क्षेत्र के नाम पर भूमि छीनने जाने के खिलाफ संघर्ष हुआ। भारत में हर राज्य ने अशांति का अनुभव किया गया, क्योंकि कई लोगों के जीवन स्तर में मिराबत आई और रोजगार की संभावनाएँ क्षीण हो गईं। आदेशों के और कृषि पूंजीपति वर्ग और उनसे जुड़ी बहुराष्ट्रीय और राष्ट्रीय फ़र्मों के लिए लाभ पैदा करने के क्रम में लोगों का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। प्रगति का जोरदार हथियारा उन आदिवासियों (झवेशी समुदायों) पर पड़ा था जिनकी भूमि का दोहन होता था, और दलितों (उद्योगी जातियों) पर भी पड़ा था जिन्हें अकल्पनीय दबावों के बीच खेतों में मज़दूरी करनी
पढ़ती है। आज के भारत में रोज़मर्रा की जिंदगी की क़ृता आसानी से राजनीतिक गतिविधि में तबबील नहीं होती है। सामाजिक असुरक्षा, आकस्मिक और खतरनाक कार्य, खड़ी समुदाय, लंबी दूरी का प्रवास और लंबे समय तक आवागमन राजनीतिक कार्यवाही की संभावना को और अधिक चुनौतीपूर्ण बना देता है, लेकिन यह ऐसी कार्यवाही की अनिवार्यता को स्पष्ट भी करता है।

दण्डविराम

2004 में, कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व वाले गठबंधन, संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) ने संसदीय चुनाव जीता और सरकार बनाई। यूपीए को वाम दलों ने संसद में समर्थन दिया, जिसने मांग की कि नवउदारवादी सुधार एजेंडा पर विराम लगाया जाए और सरकार किसानों का समर्थन करें। इन समझौतों को न्यूनतम साझा कार्यक्रम, गठबंधन सरकार के उद्देश्यों को रेखांकित करने वाले दस्तावेज़, में स्थान दिया गया। इसके बाद बुनियादी सिद्धांतों में से एक ने स्पष्ट रूप से सरकार से किसानों, खेत मज़दूरों और श्रमिकों, विशेष रूप से असंगठित क्षेत्र के लोगों के कल्याण और बेहतरी के साथ ही उनके परिवारों के लिए हर तरफ से एक सुरक्षित भविष्य का आश्रय देने का आह्वान किया।

कृषि के लिए २००५ में सुधार हुआ, इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में सर्वजनिक निवेश हुआ। 2005 में, सरकार ने एक ग्रामीण रोजगार गारंटी कार्यक्रम (महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम या मनरेगा) शुरू किया, जिसने सभी कृषि श्रमिकों को 100 दिनों के काम का वादा किया, गाँवों में बुनियादी ढाँचे में सुधार के लिए धन उपलब्ध कराया, और सूखा प्रभावित क्षेत्रों में वाटरशेड विकास के ज़रिये जल स्तर को ऊपर उठाया गया। इन कार्यक्रमों से कृषि का विस्तार हुआ, विशेषकर क्षेत्र जैसी व्यावसायिक फसलों के उत्पादन में वृद्धि हुई। शहरी मध्यम वर्ग की मांगों को पूरा करने के लिए किसानों ने बागवानी फसलों और मुर्गी पालन की
ओर ध्यान दिया। इससे मदद मिली क्योंकि उस समय वैश्विक कृषि क्रीमरें अधिक थीं, भारत की जीडीपी सालाना 7-8 फीसदी की रफ्तार से बढ़ने लगी, और सार्वजनिक तथा निजी निवेश में वृद्धि हुई। 2004-05 और 2011-12 के बीच, किसानों की आय में सालाना 7.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जोकि पिछले वर्षों में 1.96 प्रतिशत की वृद्धि से काफी अधिक थी।

वामपंथ के दबाव के बावजूद, विशेष रूप से अपने दूसरे कार्यकाल (2009-2014) में, जब वह वामपंथी समर्थन पर निर्भर नहीं थी, यूपीए सरकार ने कई क्षेत्रों में नवउदारवादी एजेंडा चलाया, जो कि भारतीय पूंजीपति वर्ग के पश्चात था। अपने दूसरे कार्यकाल के दौरान, उद्वेक्षक क्षेत्र को विनियमित करने, भूमि पाटों को उद्योग बनाने, कृषि की बाजार कोरोना के लिए खोलने और कृषि बाजार सुधार करने की प्रक्रिया शुरू करने की दिशा में यूपीए सरकार आगे बढ़ी। दूसरे सालों में, अपने दूसरे कार्यकाल में, यूपीए ने उस प्रक्रिया की शुरुआत की जिसे आगे चलकर प्रधान मंत्री नरेंद्र मोदी ने तेज़ करने वाले थे।

भारत की बड़ी पूंजी ने, राजनीतिक वर्ग के साथ मिलीभगत से, निजीकरण की नीतियों का लाभ उठाते हुए, सार्वजनिक संसाधनों (लाभदायक सार्वजनिक क्षेत्र की संपत्ति सहित) को अपने कब्ज़े में कर लिया, गाँव और वन समुदायों को विस्थापित करके भूमि के बड़े हिस्से का अधिग्रहण किया, देश के खनिज संसाधनों को नियंत्रित किया और धोखाधड़ी तथा पूरी-भुगतान योजनाओं के ज़रिये सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को खोला कर दिया। यह प्रक्रिया - जिसमें हिन्दुस्तान, व्यापार उद्योक्ताओं, और अपस्फूल नीतियाँ शामिल हैं - जिस प्रभाव पतनायक अतिक्रमण द्वारा संचालित किया जा रहा है। 2008 के बाद से, उद्योगपति मुकेश अंबानी ने फोर्ब्स की अरबपत्तियों की यूरी में अपनी वार्षिक उपस्थिति दर्ज की; 2008 में, उनकी कुल संपत्ति 20.8 अरब डॉलर थी, और वह जल्द ही यूरोप और उत्तरी अमेरिका के बाहर
दुनिया के सबसे अमीर आदमी बन जाएँगे। जब 2009 में यूपीए सरकार दूसरे कार्यकाल के लिए फिर से चुनी गई, और इस बार उसे वामपंथियों के समर्थन की आवश्यकता नहीं थी, तब शेयर बाजार में काफी उछाल आया और अंबानवी की कंपनीयों के बाज़ार मूल्य में पाँच दिनों में 1.2 करोड़ डॉलर की बढोत्तरी हुई।

मोदी का अभिशाप

2011 में, मुकेश अंबानी सहित भारत के सबसे बड़े पूँजीपतियों ने वाइब्रेट गुजरात नामक एक सम्मेलन में भाग लिया, जहाँ उन्होंने राज्य के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी की प्रशंसा की, 2002 में मुसलमानों के नरसंहार को अंजाम देने के आरोप को खारिज कर दिया, और प्रभावी ढंग से प्रधानमंत्री पद के लिए मोदी के दावे का समर्थन किया। अधिक नवउदारवादी सुधारों के लिए उत्सुक, इन पूँजीपतियों ने श्रम बाजार उदारीकरण (यानी, ट्रैड यूनियनों को सामान्य करने) और कृषि सुधार के लिए अपने साधन के रूप में मोदी पर भरोसा किया। तीन साल बाद, भारतीय जनता पार्टी ने संसदीय चुनाव जीता और मोदी भारत के प्रधान मंत्री बने।

कपास जैसे निर्यात फ़सलों की अंतर्राष्ट्रीय खींचत में गिरावट, दो साल के सूखे और कृषि विकास दर में सामान्य मंदी ने मोदी सरकार का स्वागत किया। सामने उपस्थित संकट से निपटने के बजाय, मोदी सरकार ने अर्थव्यवस्था पर तीन और आर्थिक आपदा थोप दिया।

क. विमूलकरण (नोटबंदी) (2016)। बिना किसी चेतावनी के उस वक्त प्रचलित अस्सी प्रतिशत से अधिक मुद्रा वापस लेकर, मोदी ने माँग को गिराने पर मजबूर कर दिया। कृषि उत्पादों की माँग में भी गिरावट आई। ये सभी चीजें उनके पास रखी नकदी की तरह ही बेकार हो गई थीं।
दिल्ली के टिकरी बॉर्डर पर विरोध प्रदर्शन में भाग लेता हरयाणा का एक किसान,
12 दिसंबर 2020
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान
ख. वस्तु और सेवा कर या जीएसटी (2017) जीएसटी के कार्यान्वयन ने छोटे व्यापारियों और खुदरा व्यवसायों के छोटे-मोटे मुनाफ़े में कटौती की। इसने कृषि बाजारों को प्रभावित किया, छोटे व्यापारियों वाले विविधतापूर्ण क्षेत्रों के स्थान पर एकाधिकारप्राप्त फर्मों की उपस्थिति मजबूत होती देखी गई।

ग. कोविड-19 (2020-21)। भाजपा सरकार इस बीमारी का सामना करने तथा इसको तेजी से फैलने से रोकने में कफल रही है। मार्च 2020 में अचानक हुए लॉकडाउन ने लाखों प्रवासी कामगारों को शहरों की अपनी नौकरी छोडकर दूरदराज के अपने गाँवों और छोटे शहरों में अपने घरों को लौटने के लिए मजबूर कर दिया। जब संक्रमण और मृत्यु दर में तेजी आई, तो कृषि वस्तुओं की मांग गिर गई; इससे उन किसानों के लिए संकट और बढ़ गया जिनके पास किसी प्रकार का सुरक्षा कवच नहीं था।

कोविड-19 संकट की शुरुआत में, मौके का फायदा उठाते हुए सरकार ने जून 2020 में संसद में तीन कृषि बिल पेश किए, जिन्हें बिना किसी संसदीय बहस के सितंबर 2020 में पारित कर दिया गया और राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद उन्हें क्रान्ति का रूप लेलिया। इन तीनों क्रान्तियों ने कृषि क्षेत्र को बड़े कृषि व्यवसायों के प्रवेश के लिए खोल दिया। सरकार ने दाबा किया कि ये क्रान्ति किसानों को बाजार में सर्वोत्तम मूल्य पाने के लिए अवसर प्रदान करेगा, पर वास्तव में इससे छोटे किसानों को कृषि व्यवसायों के रहस्य-करम पर छोड़ दिया जाएगा, जो बाजार को नियंत्रित करते हैं और बड़े पैमाने पर लाभ कमाते हैं।

तीनों क्रान्ति कृषि बाजार में मौजूद सीमित नियमों को कमजोर कर देगे।

1991 से इन नियमों का गला घोटा जाता रहा है, लेकिन अब इन्हें पूरी तरह बखूबी किया जा रहा है।
1. किसान उपज व्यापार और वाणिज्य (संवर्धन और सुविधा) अधिनियम यह कानून तय करता है कि नियंत्रित बाज़ार वार्ड के बाहर व्यापार पर कर नहीं लगाया जाएगा, जिसका अर्थ है कि व्यापारी नियंत्रित बाज़ारों के लिए नियंत्रित बाज़ारों को छोड़ देगे। जिन राज्यों में नियंत्रित मार्केट वार्ड मौजूद हैं - जैसे कि हरियाणा और पंजाब – वहाँ इसका तत्काल प्रभाव पड़ा है।

2. मूल्य आश्रासन और कृषि सेवा पर किसान (संशोधन और संरक्षण) समझौता अधिनियम यह कानून कृषि व्यवसाय फर्मों को एक विशिष्ट क्रियात्मक पर एक विशिष्ट फ़सल की विशिष्ट मात्रा के लिए किसानों के साथ सीधी बातचीत करने की अनुमति देता है। अनुबंध के लिए कोई विनियमन या सीमा नहीं है। अनुबंध मौखिक हो सकते हैं। कानून इन अनुबंधों के बारे में किसी भी विवाद के दीवानी अदालतों के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखता है, जो किसानों को कॉर्पोरेट्स और नौरशाहों की दया पर छोड़ देगा।

3. आवश्यक वस्तु (संशोधन) अधिनियम इस कानून के माध्यम से, सरकार ने आवश्यक वस्तुओं की सूची से उन प्रमुख वस्तुओं (अनाज, दाल, आलू और प्याज) को हटा दिया जिनकी जमाखोरी आवश्यक वस्तु अधिनियम (1955) की वजह से संभव नहीं थी। 1955 अधिनियम खाद्य मूल्य मुदाफ़ीति को रोकने के लिए बनाया गया था; इस अधिनियम में संशोधन कॉर्पोरेट्स के अनाज व्यापार में प्रवेश को आसान बनाता है और कृषि वस्तुओं के भंडार की अनुमति देता है, जिससे बाजार के वायुदा कारोबार में तेज़ी आएगी।

किसान तुरंत समझ गए कि इन तीन कानूनों का मतलब है बड़े व्यवसाय द्वारा कृषि का अधिग्रहण। पहले से ही किसान अपनी फ़सल का बेहतर मूल्य पाने के लिए संघर्ष करते रहे हैं: उपभोक्ता चयन खरीदने में जितना पैसा खर्च करते हैं धान किसानों को उसमें से आधे से भी कम मिलता है,
दिल्ली के जीटी करनाल बाईपास रोड पर गणतंत्र दिवस की ट्रैक्टर मार्च के दौरान पंजाब का एक किसान विरोध करता हुआ,
26 जनवरी 2021
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान
और प्याज़ तथा आलू किसानों की फ़सलें सुदरा बाज़ार में जिन क्रीमतों पर विकती हैं उनका पैतीस प्रतिशत हिस्सा ही उन तक पहुँचता है। एक बार जब कृषि व्यवसाय व्यापार को अपने हाथ में ले लेगा, तो निष्क्रिय तौर पर किसानों की हिस्सेदारी और भी कम हो जाएगी।

इसके अलावा, किसानों को पता है कि एक बार नियंत्रित बाजार बंद हो जाने के बाद, सरकार अनाज की खरीद को कम कर देगी और एमएसपी को पूरी तरह से वापस ले सकती है। सरकार ने कहा है कि उद्योगों पर सब्सिडी देने के बजाय, उन किसानों को नक़द हस्तांतरण करेगी। किसानों का कहना है कि इस बात की पूरी संभावना है कि यह हस्तांतरण राशि मुद्रास्फीति के आधार पर नहीं दी जाएगी और अंततः इसे रोक दिया जाएगा। सब्सिडी में कटौती के बाद, किसानों की फ़सल लागत में वृद्धि हो जाएगी, और एमएसपी को वापस ले लिए जाने से उन्हें बिना समर्थन के अस्थिर कृषि बाजारों का सामना करना पड़ेगा।

इन क़ानूनों का आधिकारिक यह बताया जा रहा है कि उद्योगों पर सब्सिडी देने और आवश्यक वस्तुओं की खरीद के कारण उद्योगों का अन्यथायुक्त उपयोग हुआ, जिससे मिट्टी का स्वास्थ्य खराब हुआ, और भूजल संसाधनों का अन्यथायुक्त उपयोग हुआ (विशेषकर धान और गेहूँ के वितरण के माध्यम से)। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि बड़े व्यवसाय मिट्टी के स्वास्थ्य या पानी के बहुत ज्यादा इस्तेमाल के बारे में चिंतित हैं। इन समस्याओं का सबसे अच्छा समाधान संस्थाओं को तोड़ना नहीं है, बल्कि उनमें सुधार करना है। उदाहरण के लिए, किसानों की लंबे समय से मांग रही है कि सरकार को खरीद के लिए फ़सलों की सूची का वितरण करना चाहिए, जिससे धान और गेहूँ के अलावा अन्य फ़सलों की मात्रा में वृद्धि हो सकेगी। इससे हरित क्रांति से प्रभावित क्षेत्रों के बाहर खरीद मर्मदंडी स्थापित हो सकेगी, और एक अधिक संतुलित फ़सल पैटर्न सुनिश्चित करने में सहायता मिलेगी। तकनीकी सहायता प्रदान करने के लिए वित्त और सेवाओं में सुधार करके, लागत का बेहतर उपयोग किया जा सकता है।
उर्वरकों और कीटनाशकों के बारे में सलाह के लिए कृषि ससायन कंपनियों
पर निर्भरता ने इन ससायनों के अनुकूलित उपयोग को बढ़ावा नहीं दिया
है। सार्वजनिक विस्तार सेवाओं को मजबूत करने से जहरीले ससायनों के
अनावश्यक उपयोग को कम करने में काफी मदद मिलेगी।

यह स्पष्ट है कि भारतीय कृषि की समस्या बहुत अधिक संस्थागत समर्थन
नहीं है, बल्कि संस्थानों के अपर्याप्त और असमान विस्तार के साथ-साथ
ग्रामीण समाज में अंतर्निहित असमानताओं को दूर करने के लिए इन
संस्थानों की अनिवार्य है। इस बात का कोई सबूत नहीं है कि कृषि व्यवसाय
फ़र्म बुनियादी ढाँचे का विकास करेगा, कृषि बाज़ारों को बढ़ाएगा, या
किसानों को तकनीकी सहायता प्रदान करेगा। किसानों के सामने ये सभी
बातें स्पष्ट हैं।

किसानों का विरोध, जो अक्टूबर 2020 में शुरू हुआ, उस स्पष्टता का
संकेत है जिसके साथ किसानों ने कृषि संकट को लेकर अपनी प्रतिक्रिया
व्यक्त की है और साफ़ तौर पर कहा है कि उन तीन कानूनों से कृषि संकट
और गहरा होगा। सरकार का कोई भी प्रयास - जिसमें धार्मिक आधार पर
किसानों को उकसाने की कोशिश भी शामिल है - किसानों की एकता को
तोड़ने में सफल नहीं हुआ है। एक नयी पीढ़ी है जिसने विरोध करना सीख
लिया है, और वे पूरे भारत में अपनी लड़ाई लड़ने के लिए तैयार हैं।

गुरु नानक दे देव (कीप्रविशालम) (अमृतसर, पंजाब) में पढ़ने वाले प्रोफ़ेसर
सरबजोत ससह बहल ने एक किसान की कहानी (जीना सिंह द्वारा अंग्रेजी
में अनुवादित कविता के आधार पर हिंदी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा
है) नाम से एक कविता लिखी, जो किसानों की लड़ाई की भावना को
अभिव्यक्त करती है:
जोतना, बोना, उगाना और काटना यही वो वादा है जो मैंने कर रखा है अपनी मिट्टी से जिसपर मैं खड़ा हूँ ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी... जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

जिस मिट्टी को मैंने अपने पसीने से सींचा जिसके लिए सीने पर तूफान सहे कंपकपाटी ठंड या चिलचिलाती गर्मी मेरी आत्मा को कभी डिगा नहीं सकी ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी... जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

जो कुदरत नहीं कर पाई, शासक ने कर दिखाया मेरी आत्मा का पुतला लगाया फैले हुए खेतों में जैसे कोई बिजुका अपनी खुशी और उपहास के लिए ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी... जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

बीते दिनों की बात है, मेरे खेत फैले हुए थे जहाँ धरती से आकाश मिलते थे लेकिन अफ़सोस! अब मेरे पास बची है मेरा कर्म चुकाने के लिए कुछ एकड़ जमीन ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी...
जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है
मेरी फ़सल सुनहरी, सफ़ेद, और हरी
मैं बाज़ार में लेकर आता हूँ नज़रें उम्मीद भरी
धराशायी उम्मीदें और ख़ाली हाथ
अपनी भूमि के तोहफे लेकर जाता था
ऐसी होती है ज़िंदगी...जब तक मौत नहीं आती
मुझे इस दुख से उबारने के लिए

भूख बिलखते अनपढ़ बच्चे
उनके सपने अब बिखरे पड़े हैं
छट के नीचे, बस मलबा है
टूटा है जिस्म, आत्मा बिखरी पड़ी है
ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी...
जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

चले गए सारे ज़ेर, और जवाहरात,
है ख़ाली पेट, और लाचार आत्मा
लेकिन मुझे पूरा करना है अपना वादा
भूख और लोभ मिटाना का
ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी...
जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

सुनहरी फ़सल जो हूँ मैं काटता
कई भी व्यापारी कभी नहीं चाहता
कर्ज में डूबा, संकट में इतना गहरा
कि मेरे धड़कनों पर भी है शायद पहरा
ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी...
जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है
क्या हो सकता है कोई और जवाब?
फाँसी हो या हो फिर इंक़लाब
हँसिया और दराँती नहीं रहे औज़ार
वे अब बन गए हैं हथियार
ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी...
जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है
जीटी करनाल रोड पर एक ट्रैक्टर दल बैकिंग टड़ कर दिल्ली में प्रवेश करता हुआ, जिसके बाद दिल्ली में प्रदर्शनकारियों और पुलिस के बीच टकराव शुरू हो गया था, 26 जनवरी 2021।

विकास ठाकुर / ट्राईकोंटिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान
References:


Chaudhary, M. K., and D. R. Aneja. ‘Impact of Green Revolution on Long-Term Sustainability of Land and Water Resources in


Tricontinental: Institute for Social Research is an international, movement-driven institution focused on stimulating intellectual debate that serves people’s aspirations.

www.thetrical.org

Instituto Tricontinental de Investigación Social es una institución promovida por los movimientos, dedicada a estimular el debate intelectual al servicio de las aspiraciones del pueblo.

www.eltrical.org

Instituto Tricontinental de Pesquisa Social é uma instituição internacional, organizada por movimentos, com foco em estimular o debate intelectual para o serviço das aspirações do povo.

www.otrical.org